

उजाले का घेरा

ओम थानवी

कस्बे के आदमी का अज्ञान टूटते टूटते टूटता है। पाठ्य-पुस्तकों में कभी वेस्ट इंडीज नाम पढ़ा हो, याद नहीं पड़ता। शायद क्रिकेट के साथ कभी नाम कान में पड़ा। सोचता था किसी अफ्रीकी देश का नाम होगा, क्योंकि टीम में हर तरफ अफ्रीकी मूल के खिलाड़ी दिखाई देते थे। धीमे-धीमे जाना कि दूर मध्य अमेरिका के नीचे द्वीपों के एक समूह का नाम वेस्ट इंडीज है। फ्लोरिडा से लेकर लातीनी अमेरिका में गयाना तक द्वीपों का एक धनुषाकार, कैरिबियाई सागर को अतलांत महासागर से बांटता हुआ।

वेस्ट इंडीज नाम क्रिस्टोफर कोलंबस का दिया हुआ है। आप जानते हैं, अत्योत्साह की यायावरी में वह यहां का वहां पहुंच गया था। क्यूबा के लोगों को देखकर उसने सोचा कि इनका रंग पक्का है, पर अफ्रीकी लोगों की तरह काला नहीं। यह चीन नहीं तो जरूर जापान होगा! ईस्ट इंडीज (दक्षिण-पूर्व एशिया) का नक्शा उसके पास था। उसे देख-पलट कर कोलंबस इस नतीजे पर पहुंचा कि वह उसके पश्चिम में है- 'वेस्ट इंडीज' में!

त्रिनीदाद-टबेगो की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन के हवाई अड्डे पर किताबों की एक दुकान में बहुत-सी किताबों का नामकरण 'ईस्ट इंडिया' या 'ईस्ट इंडियन' देखकर फिर भी मुझे कुछ हैरानी हुई। हालांकि वहां यह प्रयोग भारत और भारतवंश के स्थानीय निवासियों के लिए रूढ़ है। मगर मैं बदनाम ईस्ट इंडिया कंपनी के बाहर ऐसा प्रयोग देखने को शायद तैयार नहीं था। सहज होने पर अहसास हुआ कि उन्नीस घंटे की यात्रा में यूरोप और अतलांत महासागर पार कर हम जिस देश की देहरी पर पहुंचे हैं, उसकी चालीस फीसद आबादी भारतीय मूल की है। इतने ही वहां अफ्रीकी वंश के लोग हैं। कुछ कम। पर उनका तबका प्रभावशाली है। ब्रायन लारा जीते-जी दास्तान हैं। उनके नाम पर राजधानी में सड़क है। वेस्ट इंडीज का विश्वविद्यालय यहीं पर है। आखिर पच्चीस-पचास हजार की आबादी के द्वीपों पर पंद्रह लाख की आबादी भारी पड़ती है। तेल की पूंजी ने भी सैलानी-आश्रित द्वीपों पर त्रिनीदाद-टबेगो को औद्योगिक बढ़त दिलाई है। पर्यटन यहां नाम को है। जितना है, टबेगो द्वीप का। त्रिनीदाद की तरफ खेती और व्यापार हैं, कुदरत की रौनक नहीं।

पोर्ट ऑफ स्पेन। जैसे मुंबई के किसी नाके पर आ पहुंचे हों। गंदला समुद्र तट। गोदी में बेतरतीब जहाज। शहर में शोर। आकाश में तनी कारखानों की चिमनियां। रेंगता यातायात। आधुनिक इमारतों के पिछवाड़े अपनी हस्ती बचाने के लिए छाया तलाशते अंग्रेज दौर के बंगले। एक सुंदर-सी पहाड़ी। मछलियों की बदबू से पटा सब्जी-बाजार।

भारतीय चेहरे यहां आपको हर तरफ दिखाई देंगे। हवाई अड्डे और होटल से लेकर फुटपाथ तक। उनके गिरमिटिया पूर्वजों को लेकर पहला जहाज यहां मई, १८४५ में आया था। गयाना के सात साल बाद। बाद में दूसरे टापू भी उनसे आबाद हुए। जमैका, ग्रेनाडा, सेंट किट्स आदि। कैरेबियाई क्षेत्र में आज कोई दस लाख भारतवंशी हैं।

मगर त्रिनीदादी संपन्न हैं। मुखर भी। भारतीय मेहमानों को देखकर खुश होते हैं। पर उनसे बात देर तक नहीं चल पाती। हमारे पास जिज्ञासा और सवाल हैं। उनके पास नहीं हैं। भारत की स्मृति के नाम पर बुजुर्गों के कुछ किस्से हैं। इन्हीं के सहारे अपना भारत उन्होंने वहां बसा लिया है। उसमें खुश हैं। भाषा और वेश-भूषा पश्चिम की हैं। शादी और त्योहारों पर साड़ी, मेंहदी, बिन्दी, काजल, पायल और झुमके बाहर निकल आते हैं। शादी आपस में करते हैं; गैर-भारतीय से शादी को हिकारत से देखा जाता है। अंतरधर्मी विवाह को भी। हिंदी-उर्दू या भोजपुरी के कुछ शब्द उनके पास हैं। जैसे दाल-भात। देशज शब्दों का परिचय देने वाला एक संक्षिप्त कोश बाजार में कई जगह देखा। 'रोटी' जगह-जगह वहां रेस्तरां का नाम है। रोटी भले वहां न मिलती हो! भोजपुरी गीतों की तर्ज पर उन्होंने अपना लोकसंगीत भी रच लिया है। सबसे लोकप्रिय आविष्कार मस्ती का संगीत है, जिसे 'चटनी' कह कर पुकारा जाता है। सुंदर पोपो और आनंद यंकरण घर-घर में मशहूर चटनी-गायक हैं।

भारतीय मूल के निवासियों की आबादी पूरे त्रिनीदाद में फैली है। हिंदू जहाजी अपने साथ देवताओं की प्रतिमाएं लाए और याद रखने को गांव का नाम। नाम भूल गया, पर उनके वंशज दावा करते हैं कि प्रतिमाएं पुरखों के वक्त की हैं। कुछ जगहों के नाम उनमें हर कोई जानता है। भावुक पुरखों ने उन नामों पर त्रिनीदाद में बस्तियां खड़ी कर ली थीं। फैजाबाद, बस्कपुर, चंदर नगर या बस्ता हॉल (बस्ती) यहां आपको पनपे हुए कस्बों की शक्ल में मिलेंगे।

त्रिनीदाद-टबेगो बहुधर्मी समाज है। कोई एक तिहाई से ऊपर ईसाई (ज्यादातर रोमन कैथलिक) हैं और एक चौथाई हिंदू। मुसलमान बमुश्किल छह फीसद हैं। हालांकि मुख्य सड़कों के गिर्द न मस्जिदें दिखाई देती हैं, न मंदिर। रोटी और छप्पर के भरोसे सात समंदर पार चले आए किसान-मजदूरों को मंदिर-मस्जिद बनाने की फुससत कहां रही होगी। उनका धर्म बिरादरी और चहारदीवारी के भीतर था। शायद यही वजह है कि हिंदू-मुसलिम समुदाय में वहां कभी दुराव नहीं रहा। आज भी नहीं है। वे 'ईस्ट इंडियन' समाज हैं। जहाजी भाई। जहाज की लंबी और दुखदाई यात्रा ने धर्म ही नहीं, जात-पांत और छुआछूत का भेद भी बहुत पाट दिया था।

पता चला कि सौ साल तक वहां हिंदू मजदूरों के विवाह को मान्यता तक हासिल नहीं थी। १९४६ में 'हिंदू विवाह कानून' बना। तब कई जोड़ों ने- कानूनी मान्यता के लिए- दुबारा विवाह रचाया और उसका पंजीकरण करवाया! भारत-मूल के लोगों ने वाटरलू ग्राम में भारत-कैरिबियाई संग्रहालय स्थापित किया है। इसके एक पटल पर वृद्धावस्था में हुए पुनर्विवाह के पंजीकरण-दस्तावेज प्रदर्शित हैं।

छोटा-सा संग्रहालय बहुत सुरुचिपूर्ण ढंग से व्यवस्थित है। भारतीय जन-जीवन के कई प्रतीक वहां संजोये गए हैं। पारंपरिक बर्तन-भाण्डे, चूल्हे, वाद्य-यंत्र, खेती के औजार और आभूषण। भारतीय वस्त्र भी, जिनमें कुछ के सही नाम मैंने प्रभारी शेषभान को बताए। उसे यह मानने में देर लगी कि जिस परिधान पर 'सलवार' परची टंगी है, उसका नाम कुरती है!

वाटरलू मध्य त्रिनीदाद के जिस कारापिचाइमा हलके में पड़ता है, वह सारा भारतीय छाप वाला इलाका है। एक तरफ शगुआनास है और दूसरी तरफ कूवा। दोनों शहर भारतवंशी समुदाय के लिए जाने जाते हैं। कारापिचाइमा में गदाधारी हनुमान की गयाना से भी बड़ी मूर्ति देखी। वह दक्षिण भारतीय शैली में बनी है और पचासी फुट ऊंची है। दत्तात्रेय योग केंद्र में विशाल मंदिर के साथ बारीकी से उत्कीर्ण स्तंभ और मूर्तियां हैं। सबसे प्रसिद्ध जगह वाटरलू का शिव मंदिर है। सागर के भीतर बना मंदिर। इसकी प्रसिद्धि की वजह देवता नहीं, श्रद्धालु श्रमिक शिवदास है जिसे तट पर मंदिर बनाने की इजाजत नहीं मिली तो साइकिल पर मिट्टी-गारा ढोकर समुद्र में ही छोटा-सा रास्ता बना डाला। जुनून के सत्रह सालों में उसने समुद्र में चट्टान पर यह मंदिर तामीर किया। पर्यटन मंत्रालय ने अब इसका जीर्णोद्धार करवाया है।

देश की पुरानी मस्जिद आइरी में है। मगर शायद सबसे खूबसूरत मस्जिद पोर्ट ऑफ स्पेन से कुछ ही दूर सेंट जोजफ में है। यह १९५२ में बनी। खुली जगह का खुशगवार माहौल, ऊंचा गुंबद और पतली मीनारें। लेकिन मस्जिद का नाम "जिन्ना यादगार" (जिन्ना मेमोरियल मॉस्क) क्यों है, यह कोई नहीं बता पाया। एक मुसलिम लेखक ने कहा, "असल में इतनी दूर आकर गांधी-जिन्ना की दूरी भी पट जाती है! सच पूछें तो मैंने कभी गौर नहीं किया। पुरखे आए तब तो भारत एक होता था। शायद मेरे समुदाय के लोगों के जेहन में उपमहाद्वीप के उसी नुमाइंदा का नाम कौंधा हो! आखिर मुसलमानों के रहनुमा तो वे (जिन्ना) थे ही!" मैंने कहा, हो सकता है कहीं से कुछ माली मदद पहुंची हो! हलके अंदाज में कहा था, वे सोच-विचार कर बोले: "हो सकता है!"

दरअसल, पूरे कैरिबिया में भारतवंशी समुदाय एक है। भारत-पाकिस्तान या नेहरू-जिन्ना जैसे विभेद उनसे छुपे हुए नहीं हैं, लेकिन उनकी चेतना का हिस्सा नहीं बने हैं। वे अविभाजित भारत की संतानें हैं और कम से कम इस मामले में खुशकिस्मत कि अपने आपको इसी रूप में देखते हैं। भारत उनके पुरखों का देश है, विभाजन उनके लिए पराई दास्तान है। पुश्तों से जो इस द्वीप से बाहर न निकल सके हों, उनके लिए क्या भारत, क्या पाकिस्तान और बांग्लादेश।

जैसे एक दफा बेलफास्ट (उत्तरी आयरलैंड) से लौटकर ब्रसल्स (बेल्जियम) स्थित यूरोपी यूनियन के मुख्यालय में एक युवती से मिला था। उसने अपना परिचय 'आय'म आयरिश' कह कर दिया। मैंने नए मुल्ले

की तरह तपाक से पूछा: “नॉर्दन आयरलैंड ऑर...”। कुछ तल्खी के साथ वह बोली, “आयरलैंड इज आयरलैंड! इट हैज वन एंटिटी।” उसका कहना ठीक था। इस एक अस्मिता को हम डबलिन में देख सकते हैं और बेलफास्ट में भी। श्रीनगर में देख सकते हैं, पाकिस्तान की तरफ मुजफ्फराबाद में भी। ऐसे ही भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी देख सकते हैं। राष्ट्रों से ऊंचे उठ कर।

राष्ट्रवाद एक अलगाववादी धारणा है। वह दूरी बढ़ाता है। जबकि संस्कृति नजदीक लाती है। मिथक, नीति, इतिहास, लोक-विश्वास, महाकाव्य, कथाएं, कला, लोक-व्यवहार, परिवार, जीवन-शैली, मेले, नदियां, पर्व आदि ढेर उपादान मिलकर सदियों में एक बृहत्तर संस्कृति का निर्माण करते हैं। राष्ट्रों का बनना-बिगड़ना उसे क्यों प्रभावित करे? दुर्भाग्य से हमारे यहां संघ परिवार जैसे कट्टर संगठनों ने भारतीयता और संस्कृति को ओछे घेरों में बांध दिया है। वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा लगाते हैं। जबकि संस्कृति राष्ट्रवाद का अतिक्रमण करती है। सांस्कृतिक अस्मिता धार्मिक और राष्ट्रीय पहचान से बड़ी चीज है, जो बाकी पहचानों को समाहित रखते हुए भी कायम रह सकती है। इसके लिए राममनोहर लोहिया का संस्कृतिबोध समूचे भारतीय उपमहाद्वीप के समुदाय के लिए उपयोगी विचार साबित हो सकता है।

सवाल है कि क्या हम संस्कृति को समग्र रूप में देखना चाहते हैं?

सर विद्याधर सूरजप्रसाद नायपाल समस्या को शायद ऐसे नहीं देखते। त्रिनीदाद के वे सबसे प्रसिद्ध भारतवंशी हैं। हालांकि अठारह साल के होते-न-होते इंगलैंड चले गए थे। वहीं बस गए। कैरिबियाई जीवन उनकी आरंभिक कृतियों की जान है। ‘द मिडल पैसेज’ (बीच का गलियारा) में वे लिखते हैं, “हमारा (त्रिनीदाद समाज का) अतीत दफन था और कोई उसकी मिट्टी को खोदना नहीं चाहता था।” मगर साथ ही यह भी कहते हैं कि जो त्रिनीदादी-भारतीय भारत गए, वे वहां की मुफलिसी के प्रति जुगुप्सा लेकर लौटे, आश्चर्य होकर कि वे (त्रिनीदादी) “श्रेष्ठ” हैं। “भारतीय और त्रिनीदादी-भारतीय समाज के बीच संबंध जल्दी ही मौन नफरत में तब्दील हो गया...”।

हम जानते हैं, नायपाल के लिए भारतीय जीवन देर तक अटपटी दुनिया बना रहा। ‘एन एरिया ऑफ डार्कनेस’ (अंधेरे का घेरा) इसी खयाल का विस्तार है। जब वे त्रिनीदाद की यादों को कुरेदते हैं तो उन्हें ध्यान आता है कि “कितना भयानक था कि लोग जिस थाली में खाते थे, उसी को जानवर के आगे कर देते थे!” लेकिन सब जानते हैं, आगे जाकर भारत उन्हें कितना रास आने लगा। वे अब शायद मानते हों कि भारत में एक घेरा उजाले का भी है, जो कैरिबिया ही क्यों, फीजी, मॉरिशस और दक्षिणी अफ्रीका तक के गिरमिटिया वंश को भारतीय मन से जोड़ सकता है।

मुश्किल यह है कि कैरिबिया (और अन्यत्र मौजूद गिरमिटिया वंश) का भारतीय समुदाय जड़ों से उखड़ा हुआ है। वे एक अजनबी दुनिया में पैदा हुए और अंग्रेजी परिवेश में पले। उनके पूर्वजों के सामने दाल-रोटी की समस्या थी। प्रवास उनके लिए एक तरह का आत्मनिर्वासन था। उनकी संतानों के लिए उम्र कैद। दास युग की चाबुक-बेड़ियां भले तब न थीं, भारतीय मजदूरों के शोषण और तिरस्कार के किस्से वहां आज भी ताजा हैं। एलेक्स हेली ने ‘रूट्स’ लिखकर अफ्रीकी दास-परंपरा की त्रासदी को उजागर किया था। यह हैरान करने वाली बात है कि भारत के गिरमिटिया मजदूर-किसानों की पीड़ा को अब तक किसी सर्जक ने वाणी नहीं दी। वहां भी नहीं। हिंदी में तो जैसे सन्नाटा व्याप्त है।

गिरिजा किशोर का उपन्यास ‘पहला गिरमिटिया’ (भारतीय ज्ञानपीठ) अच्छी कृति है, पर वह अफ्रीका में गांधीजी के संघर्ष पर केंद्रित है। दक्षिणी अफ्रीका पर एक रिपोर्टाज बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा था। फीजी के गिरमिटिया परिवेश की झलक बृजविहारी लाल की दो कृतियों में मिलती है। उनकी एक किताब ‘ऑन द अदर साइड ऑफ मिडनाइट’ का अनुवाद ‘आधी रात का सफर’ (नेशनल बुक ट्रस्ट) हिंदी में भी छपा है। उसके केंद्र में लेखक की भारत यात्रा के संस्मरण ज्यादा हैं। ह्यू टिकर की किताब ‘ए न्यू सिस्टम ऑफ स्लेवरी’ (नई दासता) करारशुदा श्रम का सुचिंतित विश्लेषण है। और विद्वानों ने भी मजदूर वंश के प्रवासी समुदाय पर शोध किया है, जो अध्येताओं को उपयोगी संदर्भ-सामग्री मुहैया करा सकता है।

लेकिन विडंबना यह है कि भारत से बाहर रहने वाले तमाम समुदाय को सब विद्वान एक ही नजर से देखते हैं। सारे प्रवासी उनके लिए 'डायस्पोरा' हैं। यह पद अपने आपमें हास्यास्पद है। धन और विलासी जीवन के फेर में स्वेच्छा से परदेसी हुए समूह और वक्त के पांवों तले दबे-कुचले श्रमिक वंश को बराबर करार देना जाहिर करता है कि इस दौर में कोई गहरे जाकर गिरमिटिया त्रासदी के पत्रे उलटने-पलटने को तैयार नहीं है।

बहरहाल, मौजूदा त्रिनीदादी-भारतीय समाज भौतिक रूप से आज सुखी धरातल पर है। मगर उसमें कसक है। अफ्रीकी मूल के लोगों के साथ तनाव रहता है। गोरों के हाथों दोनों कौमों का शोषण हुआ। लेकिन देश की अस्सी फीसद आबादी होकर भी वे एक नहीं हो सके। यह जातीय टकराव है, जो कई दफा हिंसा और दूसरे अप्रिय हादसों में बदल जाता है।

मानवशास्त्र के विद्वान प्रो. कुमार महाबीर समस्या को दूसरे कोण से देखते हैं। पोर्ट ऑफ स्पेन में उनका खूबसूरत बंगला है। वे इंडो-कैरिबियन काउंसिल चलाते हैं। 'अराइवल डे' (आगमन दिवस) और 'दीवाली' नाम की दो बहुरंगी पत्रिकाओं का संपादन भी करते हैं। वे बोले: सबसे बड़े जातीय समूह को इस बहुल समाज में बाकी लोग बर्दाश्त भर करते हैं। देश धर्म-निरपेक्ष है। पर गोरा समाज हावी है। देश के सर्वोच्च सम्मान का नाम 'टिनिटि क्रॉस' है। संसद में अध्यक्ष ईसाई शब्दावली वाली प्रार्थना से कार्यवाही शुरू करता है। न्यायालय का सत्र गिरजे में प्रार्थना से शुरू होता है। बहुलता तभी कागर होगी जब गिरजे, मंदिर और मस्जिद को बारी-बारी से इज्जत मिले।

यह विडंबना है कि जो चीजें भारत में रूढ़ि मानी जाती हैं- संकीर्ण खयालों का शगल- वे परदेसी भारतवंशियों के बौद्धिक विमर्श के केंद्र में हैं! यह उनका असुरक्षा-बोध है या बहुसंख्यक अहंकार? ऐसा नहीं कि उनके मुद्दे निरर्थक हैं। उनकी चिंता कोई समझ सकता है। लेकिन क्या वाकई वे इतने बड़े मुद्दे हैं? अपने समाज और संस्कृति की परवाह उनके लिए कम प्रासंगिक क्यों है? जातीय पहचान से धर्म बड़ा क्यों है? वे अपनी जड़ों का अहसास कर सकें, क्या उनके सामने इसकी कोई विधि है?

शम्सुद्दीन वे शख्स हैं, जिन्हें इसकी परवाह है। इन्हीं का हवाला मैंने पिछली दफा दिया था। वे प्रिंसेज टाउन में रहते हैं। भारतीय समुदाय का स्मृतिलोप उनकी सबसे बड़ी चिंता है। मुझे वे उपराष्ट्रपति भैरोंसिंह शेखावत के स्वागत में वहां आयोजित एक समारोह में मिले। अगले रोज उनसे लंबी बात हुई। वे मानते हैं कि लोगों ने अपना विगत बिसरा दिया है। चंद भारतीय शब्द, त्योहार या हिंदी फिल्मों उन्हें अपनी पहचान नहीं दे सकते। उन्हें यह जानना होगा कि उनके पुरखे कौन थे और कहां से आए थे।

इस पहचान में वक्त लग सकता है। लेकिन काम नामुमकिन नहीं। शम्सुद्दीन यह साबित कर चुके हैं। वे चार बार भारत आए हैं और कुछ त्रिनीदादी परिवारों के घरों-रिश्तेदारों को उन्होंने खोजा है। उनकी वंशावली बनाई है। इनमें त्रिनीदाद के पूर्व प्रधानमंत्री बसदेव पांडे भी शामिल हैं। पांडे अहीर बिरादरी के हैं। उत्तर भारत में जल-सेवा करने वाले को पानी-पांडे भी कहा जाता था। बसदेव पांडे के पुरखे को जहाज पर यह उपनाम इसी तरह मिला था। बिछड़े लोगों के रिश्ते-नाते काल की गति में सूखते नहीं, ऐसा पांडे ने अपने पुश्तैनी गांव लखमनपुर (आजमगढ़) पहुंच कर बिछड़े रिश्तेदारों के बीच जार-जार रोते हुए महसूस किया। वे तब पद पर थे। लौटकर बोले- मुझ पर राजनेता की सख्त चमड़ी है, पर एक सदी बाद अपने परिजन मिले तो आंखें आंसुओं को रोक नहीं सकीं।

यही वह संबंध है जो देश छूटने या राष्ट्रीयता बदलने से टूटता नहीं। शम्सुद्दीन उसे जोड़ने की प्रेरणा देते हैं, मदद भी करते हैं। पूर्वजों को लेकर लोगों में स्वाभाविक जिज्ञासा है, लेकिन समाज में अतीत की गहन पहचान का उत्साह अभी ज्यादा जागा नहीं है। शम्सुद्दीन ने यह काम कभी अपने वंश की पड़ताल के साथ शुरू किया था। अब वह एक अभियान-सा बन गया है। उन्होंने बताया, पोर्ट ऑफ स्पेन का राष्ट्रीय अभिलेखागार इस मामले में बहुत काम का है। वहां सुरक्षित दस्तावेजों में १८४५ से १९१७ के बीच 'कुली जहाजों' से उतरे हर मजदूर और उसके पिता का नाम, उम्र, पहुंचने की तारीख और जमींदारी का हवाला आदि दर्ज है। "लेकिन पेचीदगी यह है कि बहुत-से मजदूरों के नाम एक थे। कई वंशजों को उसकी भी ठीक याद

नहीं। पर जमींदारी, साथ आए मजदूरों, या जहाज के नाम आदि से खोजबीन शुरू हो सकती है। बशर्ते इनमें किसी बात का अता-पता हो।” इसके लिए, जाहिर है, इच्छाशक्ति और धैर्य चाहिए।

क्या परदेसी समुदाय की अपने अतीत में सचमुच कभी दिलचस्पी होगी? क्या एलेक्स हेली, शम्सुद्दीन या उन जैसे अन्वेषी लोगों को खोई दुनिया की पहचान देकर अपनी जड़ों से जोड़ सकते हैं? या वह एक सुविधासंपन्न, आधुनिक और स्मृतिविहीन समाज बना रहेगा?

निस्संदेह, अतीत उन्हें वास्तविक जातीय या सांस्कृतिक पहचान दे सकता है। उनकी जड़ें गहरी हैं जो अभी सूखी नहीं हैं। क्या पुरखों की बंद पोटली खोलने को प्रवासी बंधु तैयार हैं?